गायत्री और यज्ञोपवीत

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री और यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीत की महान् उपयोगिता

यज्ञोपवीत का भारतीय धर्म में सर्वोपरि स्थान है । इसे द्विजत्व का प्रतीक माना गया है । द्विजत्व का अर्थ है- मनुष्यता के उत्तरदायित्व को स्वीकार करना । जो लोग मनुष्यता की जिम्मेदारियों को उठाने के लिये तैयार नहीं, पाशविक वृत्तियों में इतने जकड़े हुए हैं कि महान् मानवता का भार वहन नहीं कर सकते, उनको 'अनुपवीत' शब्द से शास्त्रकारों ने तिरस्कृत किया है और उनके लिए आदेश किया है कि वे आत्मोन्नति करने वाली मण्डली से अपने को पृथक्-बहिष्कृत समझें । ऐसे लोगों को वेद पाठ, यज्ञ, तप आदि सत्साधनाओं का भी अनधिकारी ठहराया गया है, क्योंकि जिसका आधार ही मजबूत नहीं, वह स्वयं खड़ा नहीं रह सकता, जब स्वयं खड़ा नहीं हो सकता, तो इन धार्मिक कृत्यों का भार वहन किस प्रकार कर सकेगा ?

भारतीय धर्म-शास्त्रों की दृष्टि से मनुष्य का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह अनेक योनियों में भ्रमण करने के कारण संचित हुए पाशविक संस्कारों का परिमार्जन करके मनुष्योचित संस्कारों को धारण करे । इस धारणा को ही उन्होंने द्विजत्व के नाम से घोषित किया है । कोई व्यक्ति जन्म से द्विज नहीं होता, माता के गर्भ से तो सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं । शुभ संस्कारों को धारण करने से वे द्विज बनते हैं । महर्षि अत्रि का वचन है- **'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते ।'** जन्म-जात पाशविक संस्कारों को ही यदि कोई मनुष्य धारण किये रहे, तो उसे आहार, निद्रा, भय, मैथुन की वृत्तियों में ही उलझा रहना पड़ेगा । कंचन-कामिनी से अधिक ऊँची कोई महत्त्वाकांक्षा उसके मन में न उठ सकेगी । इस स्थिति से ऊँचा उठना प्रत्येक मनुष्यताभिमानी के लिए आवश्यक है । इस आवश्यकता को ही हमारे प्रातः स्मरणीय ऋषियों ने अपने शब्दों में 'उपवीत धारण करने की आवश्यकता' बताया है ।

किसी भी दृष्टि से विचार कीजिए, मनुष्य-जीवन की महत्ता सब प्रकार से असाधारण है। कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद नर-देह मिलती है, यदि इसे व्यर्थ गवाँ दिया जाय, तो पुनः कीट-पतङ्गों की चौरासी लाख योनियों में भटकने के लिए जाना पड़ता है। कहते हैं कि गर्भस्थ बालक जब रौरव नरक की यातना से दुःखी होकर भगवान् से छुटकारे की याचना करता है, तो इस शर्त पर छुटकारा मिलता है कि संसार में जाकर जीवन का सदुपयोग किया जायेगा। कहते हैं कि मनुष्य की रचना परमात्मा ने इस उद्देश्य से की है कि वह मेरा सर्वश्रेष्ठ उत्तराधिकारी राजकुमार सिद्ध हो और ऐसे कार्य करे, जो मेरी महिमा प्रकट करते हों। कहते हैं कि आत्मा का सर्वश्रेष्ठ विकास मानव प्राणी में होता है, इसलिए उसका आचरण ऐसा होना चाहिये, जिससे ईश्वर अंश जीव की महानता प्रकट हो।

हमारे पूर्वजों ने इस तथ्य को अपनी दूर-दृष्टि से, अपने योगबल से, पहले ही भली प्रकार समझ लिया था। उनने चिरकालीन विचार-मन्थन और सूक्ष्म दृष्टि से सृष्टि की प्रत्येक बात का गम्भीर परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला था कि जन्म से मनुष्य भी पशु-पक्षियों के समान शिश्नोदर परायण होता है, पेट भरने और क्रीड़ा करने की इच्छायें उसे प्रधान रूप से सताती हैं, यदि कोई विशेष प्रयत्न करके उसे ऊँचा न उठाया जाय, तो वह कितना ही चतुर क्यों न कहलाये, पाशविक वृत्तियों के आधार पर ही जीवन व्यतीत करेगा। चूँकि इस प्रकार की जीवनचर्या अत्यन्त ही तुच्छ और अदूरदर्शितापूर्ण है, इसलिए यही कल्याणकर है कि मनुष्यों को इस निम्न धरातल से ऊँचा उठकर उस भूमिका में अपना स्थान बनाना चाहिए, जो उच्च है, आदर्शपूर्ण है, धर्ममयी है और अनेक सत्परिणामों को उत्पन्न करने वाली है। चूँकि यह स्थिति जन्म-जात पशु-वृत्तियों की क्रिया-शैली से बहुत भिन्न है, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है, इसलिए इस एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पदार्पण करने की परिवर्तन-पद्धति को 'उपनयन' कहा गया है।

देखने में यज्ञोपवीत कुछ लड़ों का एक सूत्र मात्र है, जो बायें

कन्धे पर पड़ा रहता है । इसमें स्थूल रूप से कोई विशेषता नहीं मालूम पड़ती । बाजार में दो-दो, चार-चार आने के जनेऊ बिकते हैं । स्थूल दृष्टि से यही उसकी कीमत है तथा मोटे तौर से वह इस बात की पहचान है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों में से किसी वर्ण में इस जनेऊ पहनने वाले का जन्म हुआ है । पर वस्तुत: केवल मात्र इतना ही प्रयोजन उसका नहीं है । उसके पीछे एक जीवित-जागृत दर्शन-शास्त्र छिपा पड़ा है, जो मानव-जीवन का उत्तम रीति से गठन, निर्माण और विकास करता हुआ उस स्थान तक ले पहुँचता है, जो जीवधारी का चरम लक्ष्य है ।

स्थूल दृष्टि से देखने में कई वस्तुयें बहुत ही साधारण प्रतीत होती हैं; पर उनका सूक्ष्म महत्त्व अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण होता है । पुस्तकें, स्थूल दृष्टि से देखने में छपे हुए कागजों का एक बण्डल मात्र है, जो रद्दी पर दो-चार पैसे की ठहरती है, पर उस पुस्तक में जो ज्ञान भरा हुआ है, वह इतना मूल्यवान् है कि उसके आधार पर मनुष्य कुछ से कुछ बन जाता है ।'विक्टोरिया क्रास' जो अंग्रेजी सरकार की ओर से बहादुरी का प्रतिष्ठित पदक दिया जाता था, वह लोहे का बना होता था और उसकी बाजारू कीमत मुश्किल से एकाध रुपया होगी, पर जो उसे प्राप्त कर लेता था, वह अपने आपको धन्य समझता था । परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर जो प्रमाण-पत्र मिलते हैं, उनके कागज का मूल्य एक-दो पैसे ही होगा, पर वह कागज कितना मूल्यवान् है-इसको वह परीक्षोत्तीर्ण छात्र ही जानता है । सरकारी कर्मचारियों के पद की पहचान के लिए धातु के बने अक्षर मिलते हैं, जो कि कन्धे या सीने पर कपड़ों में लगा लिये जाते हैं । यह धातु के अक्षर बाजारू कीमत से दो-चार आने के ही हो सकते हैं; पर वे कर्मचारी जानते हैं कि उन्हें लगा लेने पर और उतार देने पर उनको जनता कितने अन्तर से पहचानती है । यज्ञोपवीत भी एक ऐसा ही प्रतीक है, जो बाजारू कीमत से भले ही कम हो; पर उसके पीछे एक महान् तत्त्वज्ञान जुड़ा हुआ है ।इसलिये ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि जनेऊ पहनना कन्धे पर एक डोरा लटका लेना है, वरन् इस प्रकार सोचना चाहिए कि मनुष्य की दैवी जिम्मेदारियों का एक प्रतीक हमारे कन्धे पर अवस्थित है ।

यह पूछा जाता है कि मन में कोई बात हो, तो उसी से सब कुछ हो सकता है, इसके लिये बाह्य-चिह्न धारण करने की क्या आवश्यकता है ? जब मन में द्विजत्व ग्रहण करने के भाव मौजूद हों, तो उसका होना ही पर्याप्त है । फिर यज्ञोपवीत क्यों पहनें ? और यदि मन में उस प्रकार की भावना नहीं है, तो जनेऊ पहनने से भी कुछ लाभ नहीं ।

मोटे तौर से यह तर्क ठीक प्रतीत होता है, परन्तु जिन्होंने मनुष्य की प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि इस तर्क में कितना कम तथ्य है । बुराई की ओर, अधर्म की ओर, पाशविक भोगों की ओर, मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । इस ओर मन अपने आप चलता है, पर उसे त्याग के, संयम के, धर्म के मार्ग पर ले चलने के लिये बड़े-बड़े कष्ट साध्य प्रयत्न करने पड़ते हैं । पानी को बहाया जाय, तो वह जिधर नीची भूमि होगी, वह बिना किसी प्रयत्न के अपने आप अपना रास्ता बनाता हुआ बहेगा । निचाई जितनी अधिक होगी, उतना ही पानी का बहाव तेज होता जायेगा; परन्तु यदि पानी को ऊपर चढ़ाना है, तो यह कार्य अपने आप नहीं हो सकता, इसके लिये तरह-तरह के साधन जुटाने पड़ेंगे । नल, पम्प, टंकी आदि का कोई माध्यम लगा कर उसके पीछे ऐसी शक्ति का संयोग करना पड़ता है, जिसके दबाव से पानी ऊपर चढ़े । दबाव वाली शक्ति तथा पानी को ऊपर ले जाने वाले साधन यदि अच्छे हुए तो, वह तेजी से और अधिक मात्रा में ऊपर चढ़ता है, यदि वह साधन निर्बल हुए तो पानी चढ़ने की गति मन्द हो जायेगी । यही बात जीव को उच्च मार्ग में लगाने के सम्बन्ध में भी है । यदि धर्म-मार्ग में, सिद्धान्तमय उच्चपथ में प्रगति करनी है, तो उसके लिए ऐसे प्रयत्न करने पड़ते हैं, जैसे कि पानी को ऊपर चढ़ाने के लिये करने होते हैं । सोलह संस्कार, नाना प्रकार के धार्मिक कर्म-काण्ड, व्रत, जप, पूजा, अनुष्ठान, तीर्थयात्रा, दान-पुण्य, स्वाध्याय, सत्सङ्ग ऐसे ही प्रयोजन हैं, जिसके द्वारा मन को प्रभावित, अभ्यस्त और संस्कृत बनाकर दिव्यत्व की ओर- द्विजत्व की ओर- बढ़ाया जाता है । इन सबका उद्देश्य केवल मात्र इतना ही है कि मन पाशविक वृत्तियों से मुड़कर दिव्यत्व की ओर अग्रसर हो, यदि ऐसा

करना अपने आप ही सरलतापूर्वक हुआ तो यज्ञोपवीत को व्यर्थ बताने वाले तक को स्वीकार करने में किसी को कुछ आपत्ति न होगी ।उस दिशा में यह पृथ्वी ब्रह्मलोक होती और वैसा समय सतयुग कहा जाता ।पर आज तो वैसा नहीं है । हमारे मनों की कुटिलता इतनी बढ़ी हुई है कि आध्यात्मिक साधना करने वाले भी बार-बार भ्रष्ट हो जाते हैं, तब ऐसी आशा रखना कहाँ तक उचित है कि अपने आप ही सब कुछ ठीक हो जायेगा ।

यज्ञोपवीत धारण करना इसलिए आवश्यक है कि इससे एक प्रेरणा नियमित रूप से मिलती है । जिनके जिम्मे संसार के बड़े-बड़े कार्य हैं, जिनका जीवन व्यवस्थित है, वे सबेरे ही अपना कार्यक्रम बनाकर मेज के सामने लटका लेते हैं और उस तख्ती पर बार-बार निगाह डालकर अपने कार्यक्रम को यथोचित बनाते रहते हैं । यदि वह याद दिलाने वाली तख्ती न हो, तो उनके कार्यक्रम में गड़बड़ पड़ सकती है । यद्यपि उस तख्ती का स्वत: कोई बड़ा मूल्य नहीं है, पर उसके आधार पर काम करने वाले का अमूल्य समय व्यवस्थित रहता है । इसलिए उसका लाभ असाधारण महत्त्वपूर्ण है और उस महान् लाभ का श्रेय उस तख्ती को कम नहीं है । जनेऊ ऐसी ही एक तख्ती है, जो हमारे जीवनोद्देश्य और जीवन-क्रम को व्यवस्थित रखने की याद हर घड़ी दिलाती रहती है ।

जिन उच्च-भावनाओं के साथ, वेदमन्त्र के माध्यम से, अग्नि और देवताओं की साक्षी में यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, उससे मनुष्य के सुप्त मानस पर एक विशेष छाप पड़ती है । 'यह सूत्र यज्ञमय एवं अत्यन्त पवित्र है । इसके धारण करने से मेरा शरीर पवित्र है, अत: इसे सब प्रकार की अपवित्रताओं से बचाना चाहिए । शारीरिक और मानसिक गन्दगियों से इस दैवी पवित्रता की रक्षा की जानी चाहिए ।' यह भावना उस व्यक्ति के मन में उठनी ही चाहिए, जो जनेऊ धारण करता है । जहाँ इस प्रकार की सात्विक आकांक्षा होगी, वहाँ दैवी शक्तियाँ उसके संकल्प को पूर्ण करने में सहायक होंगी, उसे प्रेरणा और साहस देंगी । जहाँ वह फिसलेगा, उसे रोकेंगी और यदि गिरेगा भी तो उसे फिर उठायेंगी । इस

प्रकार यज्ञ की प्रतिमा-यज्ञोपवीत धारण करने वाला जब यह समझता रहेगा कि मैंने अपने कन्धे और छाती पर यज्ञ भगवान् को सुसज्जित कर रखा है तो निश्चित रूप से यह यज्ञमय जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करेगा। इस प्रकार की आकांक्षा चाहे कितनी ही मन्द क्यों न हो, प्रभु के प्रेरक आशीर्वाद के समय मनुष्य के लिए सदा कल्याणकारी ही होती है और इससे दिन ब दिन सन्मार्ग में कल्याण-पथ में ही प्रगति होती है। यह प्रगति चूँकि ईश्वरीय प्रगति है, इसके द्वारा प्राणी सब प्रकार की सुख-शान्ति का अधिकारी बनता जाता है।

श्रेष्ठता का आवरण पहन लेना, अपने आपको ऐसे पवित्र बन्धनों में बाँध लेना है, जिनके कारण पतन के गर्त में गिरते-गिरते मनुष्य अनेक बार बच जाता है। बाह्य-वेष को देखकर लोग किसी व्यक्ति के बारे में अपना मत बनाते हैं, लोकमत की दृष्टि में कोई व्यक्ति यदि अच्छा बन गया तो उसे अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल रहता है। मन विचलित होकर जब कुमार्गगामी होने को तैयार हो जाता है, तब लोक-लाज एक ऐसा बन्धन सिद्ध होती है जो उसे गिरते-गिरते बचा लेती है। जिस व्यक्ति ने ब्राह्मण या साधु का वेष बना रखा है, तिलक, जनेऊ, माला, कमण्डलु आदि धारण कर रखे हैं, वह सबके सामने निर्भीकतापूर्वक मद्य-मांस का सेवन, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि कुकर्म करने में समर्थ न हो सकेगा। करेगा तो बहुत डरता-डरता छिपकर अल्प मात्रा में। पर जिन्होंने अपने को प्रत्यक्ष रूप से मद्य-मांस विक्रेता तथा पाप व्यवसायी घोषित कर रखा है, उनको इन सब बातों में तनिक भी झिझक नहीं होती, वह इन कर्मों को अधिक मात्रा में करना अपनी अधिक बहादुरी समझते हैं। रामायण में पतिव्रता होने का कारण लोक-लाज को भी बताया है। असंख्यों, स्त्री-पुरुष मानसिक व्यभिचार में लीन रहते हैं, पर लोक-लाज वश वे कुमार्गगामी होने से बच जाते हैं। यज्ञोपवीत श्रेष्ठता का, द्विजत्व का, आदर्शवादी होने का प्रतीक है। वह एक साइनबोर्ड है, जो घोषित करता है कि इस जनेऊ पहनने वाले ने कर्त्तव्यमय, धर्ममय जीवन बिताने की प्रतिज्ञा ली हुई है, जो इस प्रकार साइनबोर्ड कन्धे पर धारण किये हुए है।

उसे अपने मार्ग से विचलित होते हुए झिझक लगेगी, सोचेगा- दुनियाँ मुझको क्या कहेगी, वह भूल या पाप करेगा तो भी झिझकते हुए कम मात्रा में करेगा, उतना नहीं कर सकेगा, जितना सर्वतन्त्र ? स्वतन्त्र होने पर निर्भय और निर्लज्ज मनुष्य निरंकुशतापूर्वक अकर्म किया करते हैं।

कई व्यक्ति कहते सुने जाते हैं कि हम आदर्श जीवन, द्विजत्व ग्रहण तो करना चाहते हैं, पर उस समय तक हम द्विज नहीं रह सके हैं, इसलिए हम द्विजत्व के प्रतीक यज्ञोपवीत को धारण क्यों करें ? यह आशङ्का भी उचित नहीं, क्योंकि यज्ञोपवीत धारण करने का अर्थ द्विजत्व में प्रवेश करना, आदर्श जीवन व्यतीत करने का व्रत लेना दिव्यता में प्रवेश करना है। इसका अर्थ यह नहीं कि जिस दिन व्रत लिया, उसी दिन वह साधना पूर्ण भी हो जाना चाहिए। इस संसार में सभी प्राणी अपूर्ण और दोषयुक्त हैं। उन दोषों और अपूर्णताओं के कारण ही तो उन्हें शरीर धारण करना पड़ता है। जिस दिन वह अपूर्णता दूर हो जायेगी, उस दिन शरीर धारण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, किसी न किसी अंश में अपूर्ण एवं दोषयुक्त है। फिर क्या हम यह कहें कि "जब सारा संसार ही पापी है, तो हमारे अकेले धर्मात्मा बनने से क्या लाभ ?"

हमें इस प्रकार विचार करना चाहिए कि श्रेष्ठता की पाठशाला में प्रवेश करना द्विजत्व का व्रत लेना ही यज्ञोपवीत धारण करना है। पाठशाला में प्रवेश करने के दिन "पट्टी-पूजा" होती है, इसका अर्थ है कि अब उस बालक की नियमित शिक्षा आरम्भ हो गई। विद्या प्राप्त करने का उसने व्रत ले लिया। यदि कोई विद्यार्थी कहे कि- "सरस्वती पूजा का अधिकार तो उसे है जो सरस्वतीवान् हो, पूर्ण विद्वान् हो, हम तो अभी दो-चार अक्षर ही जानते हैं फिर सरस्वती पूजा क्यों करें ?" तो उसका यह प्रश्न असंगत है, क्योंकि वह सरस्वती पूजा का अर्थ यह समझता है कि जो पूर्ण सरस्वतीवान् हो जाय, उसे ही पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार तो संसार के किसी भी काम का कोई भी व्यक्ति करने का अधिकारी नहीं है, क्योंकि चाहे वह कितना ही अधिक क्यों न जानता हो, तो भी किसी

न किसी अंश में वह अनजान अवश्य होगा। ऐसे तो कोई भी वकील, डॉक्टर, पण्डित, शिल्पकार, गायक, अध्यापक न मिलेगा, तो क्या उनके द्वारा किये जाने वाले सब काम रुके ही पड़े रहेंगे ?

व्रत लेने का अर्थ ही यह है कि- अभी यह नहीं किया जा सका था- आगे यह करेंगे। कोई व्रत लेना है कि मैं नियमित रूप से व्यायाम किया करूँगा, इसका अर्थ है कि वह अब तक ऐसा नहीं करता है, आगे करेगा। जो व्यक्ति सदा से ही नियमित व्यायाम करता है, उसके लिए तो वह एक साधारण स्वाभाविक दैनिक क्रिया है, उसका व्रत लेने की उसे क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार जो व्यक्ति द्विजत्व में पारंगत नहीं हो सके हैं, उन्हें ही यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है। जब उनका द्विजत्व पुष्ट, परिपक्व और पूर्ण हो जायेगा, तब फिर उन्हें इसकी कुछ आवश्यकता भी नहीं रहेगी। सन्यास आश्रम में जनेऊ का त्याग कर दिया जाता है, क्योंकि उस स्थिति में पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए वह निष्प्रयोजन है। जिस कार्य के लिए उसे धारण किया गया था, वह पूरा हो चुका तो व्यर्थ बोझ क्यों लादा जाय ? जो लोग शङ्का करते हैं कि हम द्विज नहीं हैं, इसलिए हम जनेऊ पहनने का साहस क्यों करें। उन्हें समझना चाहिए कि- 'उन्हें इसी कारण यज्ञोपवीत अवश्य पहनना चाहिए, क्योंकि उनमें द्विजत्व का अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। इस विकास के लिए ही तो उपवीत धारण किया जाता है।' क्या कोई पहलवानी का विद्यार्थी ऐसी शङ्का करता है कि मैं पूर्ण पहलवान नहीं हूँ, इसलिए अखाड़े में क्यों उतरूँ, मुगदर क्यों उठाऊँ ? उसे अखाड़े में उतरने और मुगदर उठाने की इसलिए आवश्यकता है कि वह अभी पूर्ण पहलवान नहीं हो पाया। जब वह पूर्ण पहलवान हो जायेगा, तो उसे इन अभ्यासों से छुटकारा भी मिल सकता है। यही बात उपवीत धारण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

यज्ञोपवीत धारण करना इस बात का प्रतीक नहीं कि इस व्यक्ति का पूर्ण आध्यात्मिक विकास हो गया। वरन् इस बात का प्रतीक है कि- इस व्यक्ति ने आदर्श-जीवन, धर्ममय जीवन व्यतीत करने का संकल्प

किया है । और वह अपनी परिस्थिति के अनुसार यथासाध्य अधिक से अधिक प्रयत्न करता हुआ लक्ष्य तक पहुँचने की ईमानदारी के साथ चेष्टा करेगा । ऐसी दशा में यह झिझक करना व्यर्थ है कि हम इस योग्य नहीं कि उपवीत धारण करें । इस अयोग्यता का निवारण उसके धारण करने से ही तो होगा । जो यह कहता है कि मैं तैर नहीं सकता । जो कहता है कि- मैं घोड़े पर चढ़ना नहीं जानता इसलिए नहीं चढूँगा, उसे जानना चाहिए कि घोड़े की पीठ पर बैठे बिना घुड़सवार नहीं बन सकता । यह ठीक है कि आरम्भ में काफी कठिनाई प्रतीत होती है, आरम्भ में काफी गलतियाँ भी होती हैं, पर उनका संशोधन तो धीरे-धीरे अभ्यास करने से, उस कार्य में लगने से ही तो होगा । ऐसा कोई कायदा इस संसार में नहीं है कि आप किसी कार्य में पूर्ण पारंगत हो जावें, तब उस कार्य को आरम्भ करें । कार्य को आरम्भ करने से ही उसमें कुशलता प्राप्त होती है । जनेऊ धारण करके, जब आप द्विजत्व प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ेंगे तो आप धीरे-धीरे इस मंजिल को पार करते हुए एक दिन सच्चे अर्थों में द्विज कहने योग्य बनेंगे,तभी तो आपको पूर्ण द्विजत्व की प्राप्ति होगी ।

यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में शास्त्रों के आदेश

शास्त्रों में यज्ञोपवीत की महिमा बड़े विस्तार से वर्णन की गई है । उसे प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति के लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी बताया गया है । देखिये-

कोटि जन्मार्जितं पापं ज्ञानाज्ञानकृत च यत् ।
यज्ञोपवीत मात्रेण पलायन्ते न संशयः ॥

- पद्म पुराण कौशल खण्ड

करोड़ों जन्म के ज्ञान-अज्ञान से किये हुए पाप यज्ञोपवीत धारण करने से नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं ।

येनेन्द्राय बृहस्पतिर्व्यासः पर्यदधादमृतं तेनत्वा ।
परिदधाम्या युषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥

- पा॰ गृ॰ २ ।२ ।७

जिस प्रकार इन्द्र को बृहस्पति ने यज्ञोपवीत दिया था, उसी तरह आयु, बल, बुद्धि और सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मैं यज्ञोपवीत धारण करता हूँ।

देवा एतस्यामवद्द पूर्वे सप्तर्षयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योम्न ॥

ऋग्वेद १० ।१०९ ।६

प्राचीन तपस्वी सप्त-ऋषि तथा देवगण ऐसा कहते हैं कि यज्ञोपवीत ब्राह्मण की महान् शक्ति है। यह शक्ति अत्यन्त शुद्ध चरित्रता और कठिन कर्त्तव्य परायणता प्रदान करने वाली है। इस यज्ञोपवीत को धारण करने से नीच-जन भी परमपद को पहुँच जाते हैं।

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्।
देवतानां च पितृणां भागो येन प्रदीयते ॥

- मृच्छकटिक १० ।८१

यज्ञोपवीत न तो मोतियों का है और न स्वर्ण का फिर भी यह ब्राह्मणों का आभूषण है। इसके द्वारा देवता और पूर्वजों का ऋण चुकाया जाता है।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

- ब्रह्मोपनिषद्

यज्ञोपवीत परम पवित्र है, प्रजापति ईश्वर ने इसे सबके लिए सहज ही बनाया है। यह आयुवर्द्धक, स्फूर्तिदायक, बन्धन से छुड़ाने वाला है। यह बल और तेज देता है।

त्रिरस्यता परमासन्ति सत्यास्पार्हा देवस्य जनि मान्यग्नेः।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्योरोरुचानः ॥

- ऋग्वेद ४ ।१ ।७

इस यज्ञोपवीत के परम श्रेष्ठ तीन लक्ष्य हैं। सत्य व्यवहार की आकांक्षा, अग्नि के समान तेजस्विता और दिव्य गुणों की पवित्रता इसके द्वारा भली प्रकार प्राप्त होती है।

सदा यज्ञोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

- बोधायन

सदा यज्ञोपवीत पहनें और शिखा में गाँठ लगाकर रहें। बिना शिखा और यज्ञोपवीत वाला जो धार्मिक कर्म करता है, सो निष्फल जाता है।

विना यज्ञोपवीतेन तोयं यः पिबते द्विजः।
उपवासेन चैकेन पंचगव्येन शुद्ध्यति ॥

यज्ञोपवीत न होने पर द्विज को पानी तक न पीना चाहिए। (यदि इस नियम के भङ्ग होने से वह पतित हो जाय तो) एक उपवास करने पर तथा पंचगव्य पीने पर उसकी शुद्धि होती है।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानि नयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥

यज्ञोपवीत होने से पहले बालक को वेद न पढ़ावें। क्योंकि जब तक यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता, तब तक ब्राह्मण का बालक भी शूद्र के समान है।

कृतोपनयनस्यैव व्रतादेशन मिष्यते।
ब्राह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥

जब बालकों का उपनयन संस्कार हो जावे, तभी शास्त्र की आज्ञानुसार उसका अध्ययन आरम्भ होना चाहिए, इससे पूर्व नहीं।

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।
वेदपाठी भवेद् विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥

जन्म से सब शूद्र हैं। यज्ञोपवीत होने से द्विज बनते हैं, जो वेदपाठी है, वह विप्र है। जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
तेषां जन्म द्वितीयं तु विज्ञेयं मौञ्जिबन्धनम् ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों द्विज कहलाते हैं, क्योंकि यज्ञोपवीत धारण करने से उसका दूसरा जन्म होता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
त रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥

- अथर्ववेद ११ ।५ ।३

गर्भ में बसकर माता-पिता के सम्बन्ध द्वारा मनुष्य का साधारण जन्म घर में होता है। दूसरा जन्म विद्या रूपी माता के गर्भ में, आचार्य रूपी पिता द्वारा गुरु-गृह में यज्ञोपवीत और विद्यारम्भ द्वारा होता है।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिन्हितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पितात्वाचार्य उच्यते ॥

यज्ञोपवीत- मेखला-धारण करनेसे मनुष्य का ब्रह्म-जन्म होता है। उस जन्म में गायत्री माता और आचार्य पिता है।

वेद प्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौंजिबन्धनात् ॥

वेद पढ़ाने वाले आचार्य को पिता कहते हैं। जब बालक का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाता है, तब उसे धार्मिक कर्मों को करने का अधिकार मिलता है, इससे पूर्व नहीं।

गायत्री की मूर्तिमान प्रतिमा यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीत को 'ब्रह्मसूत्र' भी कहा जाता है। सूत्र डोरे को भी कहते हैं और उस संक्षिप्त शब्द-रचना का अर्थ बहुत विस्तृत होता है। व्याकरण, दर्शन, धर्म, कर्मकाण्ड आदि के अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें ग्रन्थकर्त्ताओं ने अपने मन्तव्यों को बहुत ही संक्षिप्त संस्कृत वाक्यों में सन्निहित कर दिया है, उन सूत्रों पर लम्बी वृत्तियाँ, टिप्पणियाँ तथा टीकायें हुई हैं, जिनके द्वारा उन सूत्रों में छिपे हुए अर्थों का विस्तार होता है। ब्रह्मसूत्र में यदि अक्षर नहीं है, तो भी संकेतों से बहुत कुछ बताया गया है। मूर्तियाँ, चिह्न, चित्र, अवशेष आदि के आधार पर बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। यद्यपि इनमें अक्षर नहीं होते तो भी बहुत कुछ प्रकट करने में समर्थ हैं। इशारा करने से एक मनोभाव दूसरों पर प्रकट हो जाता है, भले ही उस इशारे में किसी शब्द-लिपि का प्रयोग नहीं किया जाता है। यज्ञोपवीत के ब्रह्मसूत्र यद्यपि वाणी और लिपि से रहित

हैं, तो भी उनमें एक विशद् व्याख्यान की अभि भावना भरी हुई है।

गायत्री को गुरुमन्त्र कहा जाता है। यज्ञोपवीत धारण करते समय जो वेदारम्भ कराया जाता है, वह गायत्री से कराया जाता है। प्रत्येक द्विज को गायत्री जानना उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे कि यज्ञोपवीत धारण करना। यह गायत्री यज्ञोपवीत का जोड़ा ऐसा ही है जैसे लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधेश्याम, प्रकृति-ब्रह्म, गौरी-शंकर, नर-मादा का जोड़ा है। दोनों के सम्मिश्रण से ही एक पूर्ण इकाई बनती है। जैसे स्त्री-पुरुष की सम्मिलित व्यवस्था का नाम ही गृहस्थ है, वैसे ही गायत्री- उपवीत का सम्मिलित ही द्विजत्व है। उपवीत सूत्र है तो गायत्री उसकी व्याख्या है। दोनों की आत्मा एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई है।

यज्ञोपवीत में तीन तार हैं, गायत्री में तीन चरण हैं। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' प्रथम चरण, 'भर्गोदेवस्य धीमहि, द्वितीय चरण और 'धियो यो नः प्रचोदयात्' तृतीय चरण हैं। तीनों तारों का तात्पर्य है, इसमें क्या संदेश निहित है, यह बात समझनी हो तो गायत्री के इन तीन चरणों को भली प्रकार जान लेना चाहिए।

उपवीत में तीन प्रथम ग्रन्थियाँ और एक ब्रह्म-ग्रन्थि होती है। गायत्री में तीन व्याहृतियाँ (भूः भुवः स्वः) और एक प्रणव (ॐ) है। गायत्री के आरम्भ में ओंकार और भूः भुवः स्वः का जो तात्पर्य है, उसी ओर यज्ञोपवीत की तीन ग्रन्थियाँ संकेत करती हैं। उन्हें समझने वाला जान सकता है कि यह चार गाँठ मनुष्य जाति के लिए क्या-क्या संदेश देती है।

इस महाविज्ञान को सरलता पूर्वक हृदयंगम करने के लिए चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) प्रणव तथा तीनों व्याहृतियाँ अर्थात् यज्ञोपवीत की चारों ग्रन्थियाँ (२) गायत्री का प्रथम चरण अर्थात् यज्ञोपवीत की प्रथम लड़, (३) द्वितीय चरण अर्थात् द्वितीय लड़ (४) तृतीय चरण अथात् तृतीय लड़। आइये अब इन पर विचार करें।

(१) प्रणव का संदेश यह है- "परमात्मा सर्वत्र समस्त प्राणियों में समाया हुआ है, इसलिए लोक सेवा के लिये निष्काम भाव से कर्म

करना चाहिए और अपने मन को स्थिर तथा शान्त रखना चाहिए।"

(२) भूः का तत्त्व ज्ञान यह है- शरीर अस्थायी औजार मात्र है, इसलिये उस पर अत्यधिक आसक्त न होकर आत्म-बल बढ़ाने का, श्रेष्ठ मार्ग का, सत्कर्मों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

(३) भुवः का तात्पर्य है- "पापों के विरुद्ध रहने वाला मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है। जो पवित्र आदर्शों और साधनों को अपनाता है। वही बुद्धिमान् है।"

(४) स्वः की प्रतिध्वनि यह है- "विवेक द्वारा बुद्धि से सत्य को जानने, संयम और त्याग की नीति का आचरण करने के लिए अपने को तथा दूसरों को प्रेरणा देनी चाहिए।"

यह चतुर्मुखी नीति यज्ञोपवीत की होती है। इन सबका सारांश यह है कि उचित मार्ग से अपनी शक्तियों को बढ़ाओ, अन्तःकरण को उदार रखते हुए अपनी शक्ति का अधिकांश भाग जनहित के लिए लगाये रहो। इसी कल्याणकारी नीति पर चलने से मनुष्य व्यष्टि रूप से तथा समस्त संसार में समष्टि रूप से सुख शान्ति प्राप्त कर सकता है। यज्ञोपवीत गायत्री की मूर्तिमान् प्रतिमा है। उसका जो सन्देश मनुष्य-जाति के लिये है, उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग ऐसा नहीं है, जिसमें वैयक्तिक तथा सामाजिक सुख-शान्ति रह सके।

सुरलोक में एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसके नीचे बैठकर जिस वस्तु की कामना की जाय, वही वस्तु तुरन्त सामने उपस्थित हो जाती है। जो भी इच्छा की जाय, तुरन्त पूरी हो जाती है। वह कल्पवृक्ष- जिनके पास होगा, वे कितने सुखी एवं समृद्ध होंगे, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

पृथ्वी पर भी एक ऐसा कल्प-वृक्ष है। जिसमें सुरलोक के कल्प-वृक्ष की सभी सम्भावनायें छिपी हुई हैं। इसका नाम है- गायत्री। गायत्री-मन्त्र को स्थूल-दृष्टि से देखा जाय तो २४ अक्षरों और नौ पदों की एक शब्द- शृंखला मात्र है। परन्तु यदि गम्भीरतापूर्वक अवलोकन किया जाय तो उसके प्रत्येक पद और अक्षर में ऐसे तत्त्वों का रहस्य छिपा

हुआ मिलेगा, जिसके द्वारा कल्पवृक्ष के समान ही समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है ।

शास्त्रों में गायत्री कल्प-वृक्ष का वर्णन मिलता है । इसमें बताया गया है "ॐ" ईश्वर, आस्तिकता ही भारतीय धर्म का मूल है । इससे आगे बढ़कर उसके तीन विभाग होते हैं- भूः भुवः स्वः । भूः का अर्थ है आत्मज्ञान । भुवः का अर्थ है- कर्मयोग । स्वः का तात्पर्य है- स्थिरता समाधि । इन तीन शाखाओं में से प्रत्येक में तीन-तीन टहनियाँ निकलती हैं, उनमें से प्रत्येक के भी अपने-अपने तात्पर्य हैं । तत्-जीवन । सवितुः - शक्ति संचय । वरेण्यं-श्रेष्ठता । भर्गो-निर्मलता । देवस्य- दृष्टि । धीमहि- सद्गुण । धियो-विवेक । यो नः-संयम । प्रचोदयात्- सेवा । गायत्री हमारी मनोभूमि में इन्हीं को बोती है । फलस्वरूप जो खेत उगता है, वह कल्प-वृक्ष से किसी प्रकार भी कम नहीं होता ।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि कल्प-वृक्ष के सब पत्ते रत्न जड़ित हैं । वे रत्नों जैसे सुशोभित और बहुमूल्य होते हैं । गायत्री कल्प-वृक्ष के उपरोक्त नौ पत्ते, निःसन्देह नौ रत्नों के समान मूल्यवान् और महत्वपूर्ण हैं । प्रत्येक पत्ता प्रत्येक गुण, एक रत्न से किसी भी प्रकार कम नहीं है । "नौलखा हार " की जेवरों में बहुत प्रशंसा है । नौ-लाख रुपये की लागत से बना हुआ 'नौलखा-हार' पहनने वाले को बड़ा सौभाग्यशाली समझते हैं । यदि गम्भीर तात्त्विक और दूर दृष्टि से देखा जाय तो यज्ञोपवीत भी नव-रत्न जड़ित नौलखा-हार से किसी प्रकार कम महत्त्व का नहीं है ।

गायत्री-गीता के अनुसार यज्ञोपवीत के नौ तार, जिन नौ गुणों को धारण करने का आदेश करते हैं, वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि नौ रत्नों की तुलना में इन गुणों की महिमा अधिक है ।

१- जीवन-विज्ञान की जानकारी होने से मनुष्य जन्म-मरण के रहस्य को समझ जाता है ।उसे मृत्यु का डर नहीं लगता, सदा निर्भय रहता है, उसे शरीर का तथा सांसारिक वस्तुओं का लोभ-मोह भी नहीं होता । फलस्वरूप जिन साधारण हानि-लाभों के लिये लोग, दुःख के समुद्र में डूबते और हर्ष के मद में उछलते हैं, उन उन्मादों से बच जाता है ।

२- शक्ति संचय की नीति अपनाने वाला दिन-दिन सबल, स्वस्थ, विद्वान्, बुद्धिमान, धनी, सहयोग-सम्पन्न प्रतिष्ठावान् बनता जाता है। निर्बलों पर प्रकृति के, बलवानों के तथा दुर्भाग्य के जो आक्रमण होते रहते हैं, उनसे वह बचा रहता है और शक्ति-सम्पादन के कारण जीवन के नाना-विधि आनन्दों को स्वयं भोगता एवं अपनी शक्ति द्वारा दुर्बलों की सहायता करके पुण्य का भागी बनता है। अनीति वहीं पनपती है जहाँ शक्ति का सन्तुलन नहीं होता। शक्ति संचय का स्वाभाविक परिणाम है, अनीति का अन्त, जो सभी के लिये कल्याणकारी है।

३- श्रेष्ठता का अस्तित्त्व परिस्थितियों में नहीं, विचारों में होता है। जो व्यक्ति साधन-सम्पन्नता से बढ़े-चढ़े हैं, परन्तु लक्ष्य, सिद्धान्त, आदर्श एवं अन्तःकरण की दृष्टि से गिरे हुए हैं, उन्हें निकृष्ट ही कहा जायेगा। ऐसे निकृष्ट आदमी अपनी आत्मा की दृष्टि में, परमात्मा की दृष्टि में और दूसरे सभी विवेकवान् व्यक्तियों की दृष्टि में नीच श्रेणी के ठहरते हैं, अपनी नीचता के दण्ड स्वरूप आत्म-ताड़ना, ईश्वरीय दण्ड और बुद्धि भ्रम के कारण मानसिक अशान्ति में डूबते रहते हैं। इसके विपरीत कोई व्यक्ति भले ही गरीब, साधनहीन हो, पर उसका आदर्श, सिद्धान्त, उद्देश्य, अन्तःकरण उच्च तथा उदार है तो वह श्रेष्ठ ही कहा जायेगा। यह श्रेष्ठता उसके लिये इतने आनन्द का उद्भव करती रहती है, जो बड़ी-बड़ी सांसारिक सम्पदाओं से भी सम्भव नहीं।

४- निर्मलता का अर्थ है- सौन्दर्य ! सौन्दर्य वह वस्तु है, जिसे मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी और कीट-पतंग तक पसन्द करते हैं। यह निश्चय है कि कुरूपता का कारण गन्दगी है। मलिनता जहाँ कहीं भी होगी, वहीं कुरूपता रहेगी और वहाँ से दूर रहने की सबकी इच्छा होगी। शरीर के भीतर मल भरे होंगे तो मनुष्य कमजोर और बीमार रहेगा। इसी कारण कपड़े, घर, भोजन, त्वचा, बाल, प्रयोजनीय पदार्थ आदि में गन्दगी होगी तो वह घृणास्पद, अस्वास्थ्यकर, निकृष्ट एवं निन्दनीय बन जायेगा। मन में, बुद्धि में, अन्तःकरण में मलीनता हो तब तो कहना ही क्या है। इन्सान का स्वरूप हैवान और शैतान से भी बुरा हो जाता है। इन विकृतियों से

बचने का एकमात्र उपाय 'सर्वतोमुखी निर्मलता' है। जो भीतर-बाहर सब ओर से निर्मल है, जिसकी कमाई, विचारधारा, देह,वाणी, पोशाक, झोपड़ी, प्रयोजनीय सामग्री निर्मल है, स्वच्छ है, शुद्ध है, वह सब प्रकार सुन्दर प्रसन्न, प्रफुल्ल, मृदुल एवं सन्तुष्ट दिखाई देगा।

५- दिव्य-दृष्टि से देखने का अर्थ है- संसार के दिव्य-तत्त्वों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना। हर पदार्थ अपने सजातीय पदार्थों को अपनी ओर खींचता है और उन्हीं की ओर खुद खिंचता है। जिनका दृष्टिकोण संसार में अच्छाइयों को देखने, समझने और अपनाने का है, वह चारों ओर अच्छे व्यक्तियों को देखते हैं। लोगों के उपकार, भलमनसाहत, सेवा भाव, सहयोग और सत्कार्यों पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में बुराइयों की अपेक्षा अच्छाइयाँ अधिक हैं। संसार हमारे साथ अपकार की अपेक्षा उपकार कहीं अधिक कर रहा है। आँखों पर जैसे रङ्ग का चश्मा पहन लिया जाये, वैसे ही रङ्ग की सब वस्तुयें दिखाई पड़ती हैं। जिनकी दृष्टि दूषित है, उनके लिए प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी बुरा है, पर जो दिव्य- दृष्टि वाले हैं, वे प्रभु की इस परम-पुनीत फुलवारी में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बरसता देखते हैं।

६- सद्‌गुण- अपने में अच्छी आदतें, अच्छी योग्यतायें, अच्छी विशेषतायें धारण करना सद्‌गुण कहलाता है। विनय, नम्रता, शिष्टाचार, मधुर भाषण, उदार व्यवहार, सेवा-सहयोग, ईमानदारी, परिश्रमशीलता, समय की पाबन्दी, नियमितता, मर्यादित रहना, कर्त्तव्य-परायणता, जागरूकता, प्रसन्न मुख-मुद्रा, धैर्य, साहस, पराक्रम, पुरुषार्थ, आशा, उत्साह वह सब सद्‌गुण हैं। सङ्गीत, साहित्य, कला, शिल्प, व्यवहार, वक्तृता, व्यवसाय, उद्योग, शिक्षण आदि योग्यतायें होना सद्‌गुण हैं। इस प्रकार के सद्‌गुण जिसके पास हैं, वह आनन्दमय जीवन बितावेगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

७- विवेक- एक प्रकार का आत्मिक प्रकाश है, जिसके द्वारा सत्य-असत्य की, उचित-अनुचित की, आवश्यक-अनावश्यक की, हानि-लाभ की परीक्षा होती है। संसार में असंख्यों परस्पर विरोधी

मान्यतायें, रिवाजें, विचारधारायें प्रचलित हैं और उनमें से हर एक के पीछे तर्क, कुछ आधार, कुछ उदाहरण तथा कुछ पुस्तकों एवं महापुरुषों के नाम अवश्य सम्बन्धित होते हैं । ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि इन परस्पर विरोधी बातों में क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य ? इस सम्बन्ध में देश, काल, परिस्थिति, उपयोगिता, जनहित आदि बातों को ध्यान में रखते हुए सद्बुद्धि से निर्णय कर लिया तो समझिये कि उसने सरलतापूर्वक सुख-शान्ति के लक्ष्य तक पहुँचने की राह पा ली । संसार में अधिकांश कलह, क्लेश, पाप एवं दुःखों का कारण दुर्बुद्धि, भ्रम तथा अज्ञान होता है । विवेकवान् व्यक्ति इन सब उलझनों से अनायास ही बच जाता है ।

८- संयम- जीवन शक्ति का, विचार शक्ति का, भोगेच्छा का, श्रमका, सन्तुलन ठीक रखना ही संयम है । न इसको घटने देना, न नष्ट-निष्क्रिय होने देना और न अनुचित मार्ग में व्यय होने देना । संयम का तात्पर्य है-शक्ति संचय । मानव-शरीर आश्चर्यजनक शक्तियों का केन्द्र है । यदि उन शक्तियों का अपव्यय रोक कर उपयोगी दिशा में लगाया जाय तो अनेक आश्यर्चजनक सफलतायें मिल सकती हैं और जीवन की प्रत्येक दिशा में उन्नति हो सकती है ।

९- सेवा-सहायता, सहयोग, प्रेरणा उन्नति की ओर, सुविधा की ओर किसी को बढ़ाना यह उसकी सबसे बड़ी सेवा है । इस दशा में हमारा शरीर और मस्तिष्क सबसे अधिक हमारी सेवा का पात्र है, क्योंकि वह हमारे सबसे अधिक निकट है । आमतौर से दान देना, समय देना या बिना मूल्य अपनी शारीरिक, मानसिक शक्ति किसी को देना सेवा कहा जाता है और यह अपेक्षा नहीं की जाती है कि हमारे इस त्याग से दूसरों में कोई-शक्ति, आत्म-निर्भरता, स्फूर्ति-प्रेरणा जागृत हुई या नहीं । एक प्रकार की सेवा दूसरों को आलसी, परावलम्बी और भाग्यवादी बनाने वाली हानिकारक सेवा भी है । हम दूसरों की इस प्रकार प्रेरक सेवा करें, जो उत्साह, आत्म-निर्भरता और क्रियाशीलता को सतेज करने में सहायक हो । सेवा का फल है उन्नति । सेवा द्वारा अपने को तथा दूसरों को समुन्नत

बनाना, संसार को और अधिक आनन्दमय बनाना महान् पुण्य कार्य है। इस प्रकार के सेवाभावी पुण्यात्मा सांसारिक और आत्म-दृष्टि से सदा सुखी सन्तुष्ट रहते हैं।

यह नवगुण निःसन्देह नवरत्न हैं। लाल, मोती-मूँगा, पन्ना, पुखराज, हीरा, नीलम, गोमेद, वैदूर्य यह नौ रत्न कहे जाते हैं, जिनके पास यह रत्न होते हैं, वे सर्वसुखी समझे जाते हैं।पर भारतीय धर्मशास्त्र कहता है कि जिनके पास यज्ञोपवीत और गायत्री मिश्रित उपरोक्त आध्यात्मिक नवरत्न हैं, वे इस भूतल के कुबेर हैं। भले ही उनके पास धन-दौलत, जमीन-जायदाद न हो। यह नवरत्न मण्डित कल्प वृक्ष जिनके पास है, वह विवेकयुक्त यज्ञोपवीत धारी सदा सुरलोक की सम्पदा भोगता है। उसके लिये यह भू-लोक ही स्वर्ग है, वह कल्पवृक्ष हमें चारों फल देता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों सम्पदाओं से हमें परिपूर्ण कर देता है।

साधकों के लिए उपवीत आवश्यक है

कई व्यक्ति सोचते हैं कि यज्ञोपवीत हमसे सधेगा नहीं, हम उसके नियमों का पालन नहीं कर सकेंगे, इसलिये हमें उसे धारण नहीं करना चाहिए। यह ऐसी ही बात हुई जैसे कोई कहे कि मेरे मन में ईश्वर-भक्ति नहीं, इसलिए मैं पूजा-पाठ न करूँगा, पूजा-पाठ करने का तात्पर्य ही भक्ति उत्पन्न करना है। यह भक्ति पहले से ही होती तो पूजा-पाठ करने की आवश्यकता न रह जाती। यही बात जनेऊ के सम्बन्ध में है, यदि धार्मिक नियमों का साधन अपने आप ही हो जाय, तो उसको धारण करने की आवश्यकता ही क्या? चूँकि आमतौर से नियम नहीं सधते, इसीलिये तो यज्ञोपवीत का प्रतिबन्ध लगाकर उन नियमों को साधने का प्रयत्न किया जाता है। जो लोग नियम नहीं साध पाते, उन्हीं के लिये सबसे अधिक आवश्यकता जनेऊ धारण करने की है। जो बीमार है, उसे ही तो दवा चाहिये, यदि बीमार न होता तो दवा की आवश्यकता ही उसके लिये क्या थी?

नियम क्यों साधने चाहिए ? इसके बारे में लोगों की बड़ी विचित्र मान्यतायें हैं । कई आदमी समझते हैं कि भोजन सम्बन्धी नियमों का पालन करना ही जनेऊ का नियम है । बिना स्नान किये, रास्ते का चला हुआ, रात का बासी हुआ, अपनी जाति के अलावा किसी का बनाया हुआ भोजन न करना ही यज्ञोपवीत की साधना है । यह बड़ी अधूरी और भ्रमपूर्ण है । यज्ञोपवीत का मन्तव्य-जीवन की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति करना है, उन्नतियों में स्वास्थ्य की उन्नति भी एक है और उसके लिये अन्य नियमों का पालन करने के साथ-साथ भोजन सम्बन्धी नियमों की सावधानी रखना उचित है । इस दृष्टि से जनेऊधारी के लिये भोजन सम्बन्धी नियमों का पालन करना ठीक है, परन्तु जिस प्रकार प्रत्येक द्विज सर्वाङ्गीण उन्नति के सभी नियमों का पूर्णतया पालन नहीं कर पाता । फिर भी कन्धे पर जनेऊ धारण किये रहता है; फिर भोजन सम्बन्धी किसी नियम में यदि त्रुटि रह जाय तो यह नहीं समझना चाहिए कि त्रुटि के कारण जनेऊ धारण करने का अधिकार ही छिन जाता है । यदि झूठ बोलने से, दुराचार की दृष्टि रखने से, बेईमानी करने से, आलस्य, प्रमाद या व्यसनों में ग्रस्त रहने से जनेऊ नहीं टूटता तो केवल भोजन सम्बन्धी नियम में कभी-कभी थोड़ा-सा अपवाद आ जाने से नियम टूट जायेगा, यह सोचना किस प्रकार कहा जा सकता है ?

मल-मूत्र के त्यागने में कान पर जनेऊ चढ़ाने में भूल होने का अक्सर भय रहता है । कई आदमी इसी डर की वजह से यज्ञोपवीत नहीं पहनते या पहनना छोड़ देते हैं । यह ठीक है कि इस नियम का कठोरता से पालन होना चाहिए; पर यह भी ठीक है कि आरम्भ में इसकी आदत न पड़ जाने तक नौसिखियों को कुछ सुविधा भी मिलनी चाहिए, जिससे कि उन्हें एक दिन में तीन-तीन जनेऊ बदलने के लिए विवश न होना पड़े । इसके लिए ऐसा करने से वह कमर से ऊँचा आ जाता है । कान में चढ़ाने का प्रधान प्रयोजन यह है कि मल-मूत्र की अशुद्धता का यज्ञ सूत्र से, स्पर्श न हो, जब जनेऊ कंठ में लपेट दिये जाने से कमर से ऊँचा उठ आता है, तो उससे अशुद्धता का स्पर्श होने की आशङ्का नहीं रहती

और यदि कभी कान में चढ़ाने की भूल भी हो जाय, तो उसके बदलने की आवश्यकता नहीं होती । थोड़े दिनों में जब भली प्रकार आदत पड़ जाती है तो फिर कंठ में लपेटने की आवश्यकता नहीं रहती ।

छोटी आयु वाले बालकों के लिए तथा अन्य भुलक्कड़ व्यक्तियों के लिए तृतीयांश यज्ञोपवीत की व्यवस्था की जा सकती है । पूरे यज्ञोपवीत की अपेक्षा दो तिहाई छोटा अर्थात् एक तिहाई लम्बाई का तीन लड़ वाला उपवीत केवल कण्ठ में धारण कराया जा सकता है । इस प्रकार के उपवीत को आचार्यों ने 'कण्ठी' शब्द से सम्बोधित किया है । छोटे बालकों का जब उपनयन होता था, तब उन्हें दीक्षा के साथ कण्ठी पहना दी जाती थी । आज भी गुरु नामधारी पण्डित गले में कण्ठी पहनाकर और कान में मन्त्र सुनाकर गुरु-दीक्षा देते हैं ।

इस प्रकार अविकसित व्यक्ति उपवीत की नित्य सफाई का भी पूरा ध्यान रखने में प्राय: भूल करते हैं, जिससे शरीर का पसीना उसमें रमता है, फलस्वरूप बदबू , गन्दगी, मैल और रोग-कीटाणु उसमें पलने लगते हैं । ऐसी स्थिति में यह सोचना पड़ता है कि कोई ऐसा उपाय निकल आए, जिससे कण्ठ में पड़ी हुई उपवीत-कण्ठी का शरीर से कम स्पर्श हो । इस निमित्त तुलसी, रुद्राक्ष या किसी और पवित्र वस्तु के दानों को कण्ठी के सूत्रों में पिरो दिया जाता है, फलस्वरूप वे दाने ही शरीर का स्पर्श कर पाते हैं । सूत्र अलग रह जाता है और पसीने का जमाव होने एवं शुद्धि में प्रमाद होने के खतरे से बचत हो जाती है, इसीलिए दाने वाली कण्ठियाँ पहनने का रिवाज चलाया गया ।

पूर्ण रूप से न सही आंशिक रूप से सभी गायत्री के साधकों को यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए, क्योंकि उपनयन गायत्री का मूर्तिमान् प्रतीक है, उसे धारण किये बिना भगवती की साधना का अधिकार नहीं मिलता । आजकल नये फैशन में जेवरों का रिवाज कम होता जाता है, फिर भी गले में कण्ठी माला किसी न किसी रूप में स्त्री-पुरुष धारण करते हैं । गरीब स्त्रियाँ काँच के मनकों की कण्ठियाँ पहनती हैं, सम्पन्न घरों की स्त्रियाँ चाँदी, सोने, मोती आदि की कण्ठियाँ

धारण करती हैं । इन आभूषणों के नाम हार, नैकलेस, जंजीर, माला आदि रखे गये हैं, पर वह वास्तव में कण्ठियों के ही प्रकार हैं । चाहे स्त्रियों के पास कोई अन्य आभूषण हो या न हो, परन्तु इतना निश्चित है कि कण्ठी को गरीब से गरीब स्त्रियाँ भी किसी न किसी रूप में अवश्य धारण करेंगी । इससे प्रकट है कि भारतीय नारियों ने अपने सहज धर्म प्रेम को किसी रूप में जीवित रखा है और उपवीत को किसी न किसी प्रकार धारण किया है ।

जो लोग उपवीत धारण करने के अधिकारी नहीं कहे जाते, जिन्हें कोई दीक्षा नहीं देता, वे भी गले में तीन तार का या नौ तार का डोरा चार गाँठ लगाकर धारण कर लेते हैं । इस प्रकार चिन्ह पूजा हो जाती है । पूरे यज्ञोपवीत का एक तिहाई लम्बा यज्ञोपवीत गले में डाले रहने का भी कहीं-कहीं रिवाज है ।

यज्ञोपवीत सम्बन्धी कुछ नियम

(१) शुद्ध खेत में उत्पन्न हुए कपास को तीन दिन तक धूप में सुखावें । फिर उसे स्वच्छ कर हाथ के चरखे से कातने का कार्य प्रसन्न चित्त, कोमल स्वभाव एवं धार्मिक वृत्ति वाले स्त्री-पुरुषों द्वारा होना चाहिए । क्रोधी, पापी, रोगग्रस्त, गन्दे, शोकातुर या अस्थिर चित्त वाले मनुष्य के हाथ का कता हुआ सूत यज्ञोपवीत में प्रयोग न करना चाहिए ।

(२) कपास न मिलने पर, गाय की पूँछ के बाल, सन, ऊन, कुश, रेशम आदि का भी यज्ञोपवीत बनाया जा सकता है । पर सबसे उत्तम कपास का ही है ।

(३) देवालय, नदी तीर, बगीचा, एकान्त, गुरु-गृह, गौशाला, पाठशाला अथवा अन्य पवित्र स्थान यज्ञोपवीत बनाने के लिए चुनना चाहिए । जहाँ-तहाँ गन्दे, दूषित, अशान्त वातावरण में वह न बनाया जाना चाहिए और न बनाते समय अशुद्ध व्यक्तियों का स्पर्श होना चाहिए ।

(४) बनाने वाला स्नान, सन्ध्यावन्दन करने के उपरान्त स्वच्छ

वस्त्र धारण करके कार्य आरम्भ करें। जिस दिन यज्ञोपवीत बनाना हो उससे तीन दिन पूर्व से ब्रह्मचारी रहे और नित्य एक सहस्र गायत्री का जप करे। एक समय सात्विक अन्न अथवा फलाहार, दुग्धाहार का आहार किया करे।

(५) चार उँगलियों को बराबर-बराबर करके उन चारों पर तीन तारों के ९६ चक्कर गिन लें। गङ्गाजल, तीर्थजल या किसी अन्य पवित्र जलाशय के जल से उस सूत्र का प्रच्क्षालन करें, तदुपरान्त तकली की सहायता से इन सम्मिलित तीन तारों को कातलें। कत जाने पर उसे मोड़कर तीन लड़ों में ऐंठ लें। ९६ चप्पे गिन लें तथा तकली पर कातते समय मन ही मन गायत्री मन्त्र का जप करें और तीन लड़ ऐंठते समय-(आपोहिष्ठा मयो भुवः) मंत्र का मानसिक जप करें।

(६) कते और इँठे हुए डोरे को तीन चक्करों में विभाजित करके ग्रन्थि लगावे, आरम्भ में तीन गाँठें और अन्त में एक गाँठ लगाई जाती है। कहीं-कहीं अपने गोत्र के जितने प्रवर होते हैं, उतनी ग्रन्थियाँ लगाते हैं और अन्त में अपने वर्ण के अनुसार ब्रह्म ग्रन्थि, क्षत्रिय ग्रन्थि या वैश्य ग्रन्थि लगाते हैं। ग्रन्थियाँ लगाते समय (त्र्यम्बकं यजामहे) मन्त्र का मन ही मन जप करना चाहिए। ग्रन्थि लगाते समय मुख पूर्व की ओर रहना चाहिए।

(७) यज्ञोपवीत धारण करते समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिए।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।

(८) यज्ञोपवीत उतारते समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिए।

एतावद् दिन पर्यन्तं ब्रह्म त्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात्त्वत्परित्यागो गच्छ सूत्र यथा सुखम्।

(९) जन्म-सूतक, मरण-सूतक, चाण्डाल-स्पर्श, मूर्दे का स्पर्श, मल-मूत्र त्यागते समय कान पर यज्ञोपवीत चढ़ाने में भूल होने के प्रायश्चित्य में उपाकर्म में, चार मास पुराना हो जाने पर, कहीं से टूट जाने पर जनेऊ उतार देना चाहिए। उतारने पर उसे जहाँ-तहाँ नहीं फेंक देना

चाहिए वरन् किसी पवित्र स्थान पर नदी, तालाब, पीपल, गूलर, बड़, छोंकर जैसे पवित्र वृक्ष पर विसर्जित करना चाहिए।

(१०) बाँये कन्धे पर इस प्रकार धारण करना चाहिए कि बाँये पार्श्व की ओर न रहे। लम्बाई इतनी होनी चाहिए कि हाथ लम्बा करने पर उसकी लम्बाई बराबर बैठे।

(११) ब्राह्मण पदाधिकारी बालक का उपवीत ५ से ८ वर्ष तक की आयु में, क्षत्रिय का ६ से ११ तक, वैश्य का ८ से १२ तक की आयु में यज्ञोपवीत कर देना चाहिए। यदि ब्राह्मण का १६ वर्ष तक क्षत्रिय का २२ वर्ष तक, वैश्य का २४ वर्ष तक, उपवीत न हो तो वह 'सावित्री पतित' हो जाता है। तीन दिन उपवास करते हुए पंचगव्य पीने से सावित्री पतित मनुष्य प्रायश्चित्त करके शुद्ध होता है।

(१२) ब्राह्मण का वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का उपवीत शरद् ऋतु में होना चाहिए। पर जो 'सावित्री पतित' हैं, अर्थात् निर्धारित आयु से अधिक का हो गया है, उसका भी उपवीत कर देना चाहिए।

(१३) ब्रह्मचारी को एक तथा गृहस्थ को दो जनेऊ धारण करने चाहिए, क्योंकि गृहस्थ पर अपना तथा धर्म-पत्नी दोनों का उत्तरदायित्व होता है।

(१४) यज्ञोपवीत की शुद्धि नित्य करनी चाहिए। नमक, क्षार, साबुन, रीठा आदि की सहायता से जल द्वारा उसे भली प्रकार रगड़ कर नित्य स्वच्छ करना चाहिए ताकि पसीने का स्पर्श होने से जो नित्य ही मैल भरता रहता है, वह साफ रहे और दुर्गन्ध अथवा जुयें आदि जमने की सम्भावना न रहे।

(१५) मल-मूत्र त्याग करते समय अथवा मैथुन काल में यज्ञोपवीत कमर से ऊपर रखना चाहिए। इसलिए उसे कान पर चढ़ा लिया जाता है। कान की जड़ को मलमूत्र त्यागते समय ड़ोरे से बाँध देने से बवासीर, भगन्दर जैसे गुदा के रोग नहीं होते, ऐसा भी कहा जाता है।

(१६) यज्ञोपवीत आदर्शवादी भारतीय संस्कृति की मूर्तिमान

प्रतिमा है, इसमें भारी तत्त्व ज्ञान और मनुष्य को देवता बनाने वाला तत्त्व-ज्ञान भरा हुआ है। इसलिए इसे धारण करने की परिपाटी का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए। चाहे लोग उस रहस्य को समझने तथा आचरण करने में समर्थ न हों तो भी इसलिए उसका धारण करना आवश्यक है कि बीज होगा तो अवसर मिलने पर उग भी आयेगा।

अयोग्य को अनधिकार

"स्त्री और शूद्रों को वेद ज्ञान तथा ब्रह्म सूत्र नहीं लेना चाहिए" इस अभिमत का तात्पर्य किसी को जन्म-जात कारणों की वजह से ईश्वरीय धर्म मार्ग में प्रवेश करने से रोकना नहीं है, वरन् यह है जिनकी अभिरुचि अध्यात्म मार्ग में नहीं है, जिसकी शिक्षा, अभिरुचि तथा मनोभूमि धर्म मार्ग में प्रवृत्त न होकर दूसरी ओर लगी रहती है, वे वेद-मार्ग में दिलचस्पी न ले सकेंगे, उसमें श्रद्धा न कर सकेंगे, समझ न सकेंगे। अधूरा ज्ञान लेकर तो उसके दुरुपयोग की ही अधिक सम्भावना है। शास्त्रकारों ने वेद-मार्ग में प्रवेश होने की शर्त यह रखी है कि-- धर्म में विशेष रुचि हो, जिसमें यह रुचि पर्याप्त मात्रा में है, वह द्विज है; जिसमें नहीं है, वह शूद्र है। शूद्र वृत्ति वाले लोगों के लिए उपवीत एक भार है। वे उसका उपहास या तिरस्कार करते हैं। ठीक रीति से धारण न कर सकने योग्य उसे धारण न करें तो ठीक है।

जिनमें ये दोष न हों वरन् प्रबल धर्म में रुचि हो वे जन्म-जात कारण से धर्म-संस्कारों से नहीं रोके जाने चाहिए, ऐसे प्रमाण पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं, जिनसे प्रकट होगा कि शास्त्र स्त्री और शूद्रों को भी उपवीत धारण करने की आज्ञा देता है-

"द्विविधा स्त्रियो ब्रह्म वादिन्यः सद्योवध्वश्च।
तत्र ब्रह्मवादिनीनां उपनयनं अग्नि गन्धनं
वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षावृत्तिश्च। वधूनां तूपवीतार्थं
विवाहे 'कथञ्चिदुपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः॥

अर्थात् स्त्रियाँ दो प्रकार की हैं- ब्रह्मवादिनी और नववधु। ब्रह्मवादिनियों को उपनयन, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और अपने घर में ही भिक्षा करनी चाहिए। नव-वधुओं को कम-से-कम विवाह समय में तो यज्ञोपवीत अवश्य ही करना चाहिए।

पुरा कल्पे तु नारी मौञ्जिबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा।

अर्थात्- पुराने समय में स्त्रियाँ यज्ञोपवीत धारण करती थीं, वेद पढ़ती थीं और गायत्री का जप करती थीं।

प्रवृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानायानयेत् सोमोऽददत् गंधर्वायेति।

- गो॰ मु॰ २।१।१९-२१

अर्थात्- "तत्पश्चात् उस कन्या को यज्ञोपवीत धारण कराके वस्त्रों से आच्छादित करके पति के समीप लावे और 'सोमोऽददत्', इस मन्त्र को पढ़े। विवाह के समय यज्ञोपवीत धारण करने का यह विधान मौजूद है तो अन्य समय में फिर कैसे निषिद्ध ठहराया जा सकता है।"

यजुर्वेदीय पारस्कर गुह्य सूत्र में "स्त्रिय उपवीता अनुपवीताश्च" इत्यादि वचन आते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ यज्ञोपवीत पहने वाली और न पहनने वाली दोनों प्रकार की होती थीं।

शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। इदञ्च रथकारस्योपनयनं। अदुष्टकर्मणो शूद्राणामुपनयनम्।

अर्थात्- अदुष्ट काम करने वाले शूद्रों का उपनयन होना चाहिए। रथकार का उपनयन होना चाहिए।

अधिकार- अनधिकार के प्रश्न का समाधान यह है कि द्विजत्व के चिह्न जिसमें मौजूद हैं, जो यज्ञोपवीत की साधना का महत्त्व समझते हैं और हृदयंगम करके अपने जीवन को ऊँचा बनाना चाहते हैं, उन्हें उसके धारण करने की अनुमति होनी चाहिए।जिनके गुण,कर्म,स्वभाव में शूद्रत्व भरा हुआ है, वे उपवीत पहनकर उसे भी लज्जित न करें तो ठीक है।

ब्रह्मसूत्र का प्रयोजन

यज्ञोपवीत का वास्तविक प्रयोजन मन पर शुभ संस्कार जमाना है । आत्मा को ब्रह्मपरायण करने के लिए अनेक प्रकार के पूजन, साधन, व्रत, अनुष्ठान विभिन्न धर्मों में बताये गये हैं । हिन्दू-धर्म के ऐसे ही प्रधान साधनों में एक यज्ञोपवीत है । ब्रह्मसूत्र धारण करके लोग ब्रह्म तत्त्व में परायण हों, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रह्मसूत्र है । यदि उससे प्रेरणा ग्रहण न की जाए तो वह गले में डोरा बाँधने से अधिक कुछ नहीं ।

उपनिषदों में ज्ञानरूपी उपवीत धारण करने पर अधिक जोर दिया गया है । सूत्र धारण का उद्देश्य भी ब्रह्मपरायणता में प्रवृत्ति करना है । यह प्रवृत्ति ही आत्म-लाभ कराती है ।

येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणि गणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगतत्वञ्च दर्शितम् ॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमयंसूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ॥
धारणात्त सूत्रस्य नोच्छिष्टो ना शुचिर्भवेत् ।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञान यज्ञोपवीतिनाम् ।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं निष्ठा पवित्रं ज्ञानमुत्तमम्
अग्निरिव शिखानान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ॥
स शिखीत्युच्यते विद्वानितरे केशधारिणः ।

- ब्रह्मोपनिषद्

अर्थात्- जिस ब्रह्मरूपी सूत्र में यह सब विश्व, मणियों के समान पिरोया हुआ है, उस सूत्र-यज्ञोपवीत को तत्त्वदर्शियों को धारण करना चाहिए । बाहरी सूत्र की ओर अधिक ध्यान न देकर जो ब्रह्मभाव रूपी सूत्र को धारण करता है, वह चैतन्य है । उस ज्ञानरूपी आध्यात्मिक यज्ञोपवीत को धारण करना चाहिए, जो कभी अपवित्र नहीं होता । जिनके ज्ञानरूपी शिखा है, और जो निष्ठारूपी यज्ञोपवीत धारी हैं वे ही सच्चे शिखाधारी और सच्चे यज्ञोपवीतधारी हैं, तप के समान दूसरी शिखा नहीं

है । जिसके ज्ञानमयी शिखा है उसे ही विद्वान् लोग शिखाधारी कहते हैं, अन्य तो बाल रखने वाले मात्र हैं ।

सिख सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों में ऐसा ही जनेऊ धारण करने पर जोर दिया गया है । केवल मात्र बाहरी जनेऊ से ही काम नहीं चलता । आत्मिक यज्ञोपवीत को धारण करने में ही वास्तविक कल्याण है । मानसिक सद्गुणों का सूत्र धारण किये बिना केवल बाह्य उपकरण मात्र से ही प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ।परन्तु आध्यात्मिक साधना करने वाले व्यक्ति बिना बाह्य उपकरण के, अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं ।

दया कपास संतोख सूत, जत गँठी सत बट्ठा ।
एक जनेऊ जीऊ का, हईता पांडे घत्त ॥
वां एक तुटै न मल लगै ना, इहु जलै न जाय ।
धन्य सो मानस नानका, जो गल चल्ले पाय ॥

अर्थात्- हे पण्डित ! दयारूपी कपास का सन्तोष रूपी सूत बनावे और सत्य की ऐंठ देकर जत (इन्द्रिय निग्रह) की गाँठ लगावे । जीव को यदि ऐसा यज्ञोपवीत आपके पास है तो पहनाओ । इस प्रकार का यज्ञोपवीत न तो टूट सकता है और न मलिन हो सकता है । न जल सकता है, न विनष्ट हो सकता है । वह मनुष्य धन्य है जो ऐसा यज्ञोपवीत गले में पहनता है ।

पत बिन पूजा, सत बन संजम, जत बिन काहे जनेऊ ।

- राग रामकली महला अष्टपदी १ ।५

अर्थात्- विश्वास के बिना पूजा, सत्य के बिना संयम और इन्द्रिय निग्रह के बिना जनेऊ का क्या महत्व है ।

२- अर्थात्- जनेऊ का महत्त्व तभी है जब उसके साथ-साथ, विश्वास, सत्य, संयम आदि आत्मिक गुण भी हों ।

जो साधक मनोसंयम की पूर्णता तक पहुँच जाते हैं , उनके लिए कर्मकाण्डों का प्रयोजन शेष नहीं रह जाता । इसलिए चतुर्थ आश्रम में जाने पर सन्यासी लोग शिखा, सूत्र, अग्निहोत्र आदि का परित्याग कर देते हैं ।

ऐसी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त एक महात्मा अपने सन्ध्या-वन्दन न करने का कारण बताते हुए कहते हैं कि-

हृदाकाशेचिदादित्यः सर्वदैव प्रकाशते।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥

'हृदय आकाश में सदा ज्ञानरूपी सूर्य प्रकाशित रहता है। यह सूर्य कभी अस्त नहीं होता, न उदय होता है, अतएव सन्ध्याकाल ही नहीं आता। फिर सन्ध्या-वन्दन किस समय करें?'

मृता मोहमयी माता जातो ज्ञानमयः सुतः।
पातकं सूतकं नित्यं कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥

'मोह रूपी माता मर गई है और ज्ञानरूपी पुत्र पैदा हुआ है। इसलिए सदा सूतक और पातक लगे रहते हैं, ऐसी दशा में सन्ध्या-वन्दन किस प्रकार करें?'

आरम्भिक अवस्था में सहायक साधनों की आवश्यकता अनिवार्य है। जैसे शुरू के विद्यार्थी के लिए पुस्तक, कापी, पट्टी, खड़िया आदि नितान्त आवश्यक हैं, इनके बिना शिक्षा आगे नहीं बढ़ सकती। परन्तु कालान्तर में वही बालक जब प्रोफेसर हो जाता है तो फिर खड़िया, पट्टी आदि की जरूरत नहीं होती। वह शिक्षा उसे पूर्ण रूप से हृदयङ्गम हो जाती है। इसी प्रकार आत्म-साधन में सफलता प्राप्त करने वाले सन्यासी को भी शिखा, सूत्र की आवश्यकता नहीं होती।

यज्ञोपवीत की तीन लड़ियाँ

यज्ञोपवीत में तीन लड़ें होती हैं। यह लड़ें हमारे लिए तीन महान् संकेत करती हैं। पुस्तकें मूक होती हैं, पर उनके गर्भ में विचारों का भारी भण्डार जमा रहता है, मूर्तियाँ, प्रतिमायें, तस्वीरें, समाधियाँ, स्मारक, ऐतिहासिक भूमियाँ, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से मौन होती हैं, निष्प्राण होने के कारण वे अपनी कोई बात किसी से नहीं कह सकतीं तो भी विचारवान् व्यक्ति जानते हैं कि उनमें कितने भारी सन्देश भरे होते हैं और

यह निर्जीव पदार्थ मानव अन्त:करण पर अपनी छाप इतनी डालते हैं, जितनी कि सजीव प्राणी भी कठिनाई से डाल पाता है ।

महात्मा गान्धी की समाधि दिल्ली में राजघाट पर है, उस स्थान पर पहुँचने पर भावनाशील अन्त:करणों में महात्मा गाँधी की आत्मा सम्भाषण करती है । जलियाँवाला बाग में पैर रखते ही उन स्वाधीनता की बलिवेदी पर शहीद हुए अमर नर-नारियों की याद में आँखें सजल हो जाती हैं । एक मुसलमान से पूछिये कि मक्का शरीफ जाकर कितना उल्लास अनुभव करता है । राम, कृष्ण के उपासकों से पूछिये कि मथुरा और अयोध्या में जाने पर उन्हें कितनी मूल्यवान् प्रेरणा, भावना और तृप्ति मिलती है । चित्तोड़ की रानियों का चिता-स्थल, हल्दीघाटी अपना एक विशेष सन्देश देता है । पुनीत नदियाँ, तीर्थ, मन्दिर आदि के समीप जाते हैं, तो वे अपनी मूक भाषा में हम से वार्तालाप करते हैं और अपना एक विशेष सन्देश देते हैं । यह सब यद्यपि प्रत्यक्षत: निर्जीव हैं तो भी इनके पीछे एक तथ्य जुड़ा रहता है, जिसके कारण वे मूक होते हुए भी वाक्पटु, प्रभावशाली एवं प्रामाणिक व्याख्याता की भाँति हमसे कुछ कहते हैं ।

यज्ञोपवीत भी एक ऐसी ही मूक व्याख्याता गुरु है, जो प्रतिक्षण हमारे साथ रहता है और हर घड़ी बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण उपदेश देता रहता है । उसमें तीन लड़ें हैं यह विश्वव्यापी तीन कर्तव्यों की ओर सदा हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं और बताती हैं कि आदर्श जीवन एक प्रकार का त्रिकोण है । इसमें तीन रेखायें हैं, इसमें तीन कोण हैं, जिनका ठीक प्रकार सन्तुलन रखने से ही सुन्दरता रहेगी, यदि यह सन्तुलन बिगड़ जाता है तो यह बड़ा भद्दा टेढ़ा-मेढ़ा कुरूप हो जायेगा । इसलिए यज्ञोपवीत की तीन लड़ें हमें उन तीन तथ्यों की ओर हर घड़ी याद दिलाती हैं, जिनके ऊपर जीवन सौन्दर्य का सारा आधार रखा हुआ है ।

तीन ऋण- (१) देव ऋण (२) ऋषि ऋण (३) पितृ ऋण । इस त्रिक में उन सबके प्रति विनम्रता और कृतज्ञता के भाव हैं, जिन्होंने मनुष्य को ज्ञान और विकास के साधन प्रदान किये हैं । ऐसे लोगों के प्रति हम ऋणी हैं और उसे कर्त्तव्य पालन के द्वारा ही चुका सकते हैं ।

दुःखों के तीन कारण हैं- (१) अज्ञान (२) अशक्ति (३) अभाव । यज्ञोपवीत हमें ज्ञान, शक्ति और अध्यवसाय की प्रेरणा देकर इन दुःखों के कारणों से बचाता है । जीवन की सारी सुख-सुविधाएँ इन्हीं तीन तत्त्वों पर आधारित हैं, जो इस मर्म को समझकर तदनुकूल आचरण करते हैं, उनका यज्ञोपवीत सार्थक हो जाता है ।

ज्ञान को तीन क्षेत्रों में बाँटा है (१) ईश्वर (२) जीव (३) प्रकृति । रोजी-रोटी के साधनों तक सीमित रह जाने वाले लोग संसार में आने का यथार्थ प्रयोजन पूरा नहीं कर सकते हैं । हम प्रकृति के सहारे जीवन धारण किये हुए हैं, इसलिए उसकी जानकारी तो करें पर जीवन का आविर्भाव किन परिस्थितियों में हुआ और इस विराट् चेतन जगत् का नियन्त्रण कौन करता है, इसकी जानकारी भी हमें जब तक नहीं हो, तो हमारा भौतिक ज्ञान सुख, सन्तोष प्रदान नहीं कर सकता । यज्ञोपवीत का एकत्रिक इसी बात का संकेत करता है ।

हमारे व्यावहारिक जीवन में उल्लास, उत्साह, आनन्द, शौर्य, सुख, सन्तोष और शान्ति जिन गुणों पर आधारित हैं, वह भी मुख्यतया तीन ही हैं (१) सत्य (२) प्रेम (३) न्याय । हमारे जीवन में जो कुछ भी यथार्थ है, उससे भटकते हैं और अपने जीवन में कृत्रिमता का आवरण ओढ़ लेते हैं, तभी कष्ट, क्लेश, क्षोभ और दुश्चिन्तायें सताती हैं; इसलिए आवश्यक है कि हम जैसे भी हैं, ठीक वैसे ही रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत हों । प्रेम व्यावहारिक जीवन के आनन्द का दूसरा गुण है । प्रेम-विहीन जीवन पशु-पक्षियों की तरह हो जाता है । इसलिए हमें अपनी आत्मा को प्राणिमात्र की आत्मा के साथ जोड़ने का अभ्यास कर अपने जीवन में सरलता बनाये रखनी चाहिए । उसी प्रकार सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के लिए न्याय भी आवश्यक है । गायत्री का एकत्रिक इन तीन गुणों की ओर संकेत कर व्यावहारिक जीवन के आनन्द की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है ।

यज्ञोपवीत का उद्देश्य मानवीय जीवन में उस विवेक को जागृत करना होता है, जिससे वह अपने वर्तमान-भूत-भविष्य- को सुखी और

सम्पन्न बना सके । जो लोग अपना जीवन लहर में पड़े फूल-पत्तों की तरह अच्छी बुरी परिस्थितियों के साथ घसीटते रहते हैं, वह कहीं भी हों, दुःखी ही रहते हैं; किन्तु हम जब प्रत्येक कार्य विचार और योजनाबद्ध तरीके से पूरा करते हैं तो भूलें कम होती हैं और हम अनेक संकटों से अनायास ही बच जाते हैं ।

यज्ञोपवीत हमें (१) माता (२) पिता और (३) आचार्य के प्रति कर्त्तव्य पालन की भी प्रेरणा देता है और (१) ब्रह्मा (२) विष्णु (३) महेश इन तीन सृष्टि की (१) सृजन (२) पालन और (३) विनाश की शक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित किये रखने की व्यवस्था भी जुटाता है । इसके व्यावहारिक और दार्शनिक रहस्यों का उद्घाटन ही गायत्री और यज्ञोपवीत के रूप में हुआ है । इसलिए इन दोनों तत्त्वों को भारतीय संस्कृति में सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गई है । बीच में लोग उस तत्त्वज्ञान को भूल गये जो यज्ञोपवीत की ३ लड़ों, ९ तार और ९६ चौवों में सूत्ररूप से पिरोये हुए हैं, उसे फिर से जागृत करने की बड़ी आवश्यकता है । यज्ञोपवीत हमारे शरीर की नहीं जीवन की शोभा भी है, यदि हम भारतीय उसे फिर शिक्षाओं और आदर्शों के साथ धारण कर सकें तो यज्ञोपवीत भी सार्थक हो, हमारा मनुष्य जीवन भी ।

- ० -

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा